स्वामी विवेकानन्द की विदेश यात्राओं का भारतीय शिक्षा के विकास में भूमिका एवं महत्व

अंजना भट्ट[1], सुशील कुमार[2],
[1]शोध छात्र, श्री वेकेटेश्वर विश्वविद्यालय, गजरौला अमरोहा (उ०प्र०)
[2]शोध छात्र, श्री वेकेटेश्वर विश्वविद्यालय, गजरौला अमरोहा (उ०प्र०)

Accepted:5.01.2023 **Published**: 31.01.2023

स्वामी जी सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके और यहाँ के छोटे–बड़े प्रसिद्ध व्यक्तियों से वार्तालाप करके इसी निश्चय पर पहँचे कि एक बार देश से बाहर जाकर हिन्दू धर्म के उच्च सिद्धान्तों का प्रसार किया जाए जिससे एक ओर तो विदेशों के अध्यात्म–प्रेमी व्यक्ति भारतवर्ष की तरफ आकर्शित हों और दूसरी ओर जो हमारे शिक्षित देष–बंधु विदेशी सभ्यता से चकाचौंध होकर अपनी प्राचीन संस्कृति में विमुख हो जाते हैं उनकी भी आँखें खुलें। इस अवसर पर मद्रास में उनको यह सूचना मिली की अमरीका के शिकागो नगर में एक–सर्व धर्म–सभा' होने वाली है और उसमें अभी तक ''सनातन हिन्दू धर्म'' की ओर से कोई प्रतिनिधि नहीं गया। स्वामी जी को अपनी अंतरात्मा से यह प्रेरणा हुई किस अवसर पर उनको अन्य धर्म वालों के समक्ष हिन्दू धर्म के झण्डे को ऊँचा करना चाहिए। उनके सभी मित्रों और शुभचिंतकों ने भी इस मत का समर्थन किया और 13 मई 1893 को विदेश जाने का निश्चय हो गया।[1]

जिस समय स्वामीजी यात्रा के लिए धन की व्यवस्था पर विचार कर रहे थे उसी समय खेतड़ी के दीवान जगमोहन लाल उनकी सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने कहा कि ''अपने दो वर्ष पहले राजा साहब को पुत्र देने का आशीर्वाद दिया था वह सफल हो गया है और उस आनंदोलन में महाराज ने आपसे पधारने की प्रार्थना की है। ''स्वामीजी खेतड़ी नरेश पहुँचे और नवजात शिशु को आशीर्वाद देकर चल दिए। खेतड़ी नरेश ने अपने दीवान को भी उनके साथ भेजा और यात्रा का पूरा प्रबंध और मार्गव्यय आदि की व्यवस्था करने की ताकीद कर दी।[2]

जयपुर से बम्बई जाते हुए आबूरोड़ स्टेशन पर स्वामीजी की भेंट अकस्मात अपने एक गुरूभाई तुरीयानन्द से हो गई। उनसे बातें करते हुए स्वामीजी ने कहा– ''हरिभाई, मैं तुम्हारे धर्मकर्म को अधिक नहीं समझता, पर मेरा हृदय अब बहुत विशाल हो गया है और मुझे सामान्य लोगों के दुःखों का बड़ा अनुभव होने लगा है। मैं सत्य कहता हूँ कि लोगों को कष्ट पाते देखकर मेरा हृदय बड़ा व्याकुल होता है।'' यह कहते–कहते स्वामीजी की आँखों से आँसू गिरने लगे। स्वामी तुरीसानन्द ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए कहा था– ''क्या यह भावना और शब्द बुद्धदेव के से नहीं हैं? मैं दीपक के प्रकाश की तरह स्पष्ट देख रहा था कि देशवासियों के दुःखों से स्वामीजी का हृदय धधक रहा था और वे इस दुर्व्यवस्था का सुधार करने के लिए किसी रामबाण रसायन की खोज कर रहे थे?''

31 मई को स्वामीजी बम्बई के बंदरगाह पर अमरीकी जाने वाले जहाज में सवार हो गए। उस समय भगवा रंग का रेशमी लबादा, माथे पर उसी रंग का फेंटा बाँधकर किसी राजा के समान शोभा देने लगे।

जगमोहनलाल और मद्रास के एक भक्त अलसिंह पेरूमल उन्हें जहाज के दरवाजे तक पहुँचाने को आए। थोड़ी देर बाद जहाज के छूटने का घंटा बजा। दोनों भक्तों ने स्वामीजी के पैर पकड़कर आँसू भरे नेत्रों से विदा ली और जहाज चल दिया। कोलंबों, पिनांग, सिंगापुर, हाँगकाँग, नागासाकी, ओसाका, टोकियों आदि बड़े नगरों को देखते हुए स्वामीजी अमरीका के बैंकोवर बंदरगाह पर उतरे। वहाँ से रेल द्वारा शिकागो पहुँच गए।[4]

स्वामीजी जुलाई के आरम्भ में अमरीका पहुँच गए थे। वहाँ उनको मालूम हुआ कि सभा सितम्बर में होने वाली है। इतने समय तक शिकागो जैसे खर्चीले शहर में होटल में रहने लायक धन स्वातीजी के पास न था। यह भी कहा गया कि किसी प्रसिद्ध संस्था के प्रमाण–पत्र के बिना ये धर्म–सभा के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते। कुछ दिन बाद कम खर्च की निगा से बोल्टन चले गए। रास्ते में एक भद्र महिला से परिचय हो गया, जिसने आग्रहपूर्वक उनको अपने घर ठहरा लिया। पर उस शहर में अपनी पोशाक के कारण उन्हें असुविधा होने लगी। विचित्र कर उनके पीछे लग जाते और ''हुर्रे–हुर्रे'' का शोर मचाने लगते। इस दिक्कत से बचने के लिए उस महिला ने उनको सलाह दी कि सामान्यतः आप यहीं की पोशाक पहिना कीजिए। स्वामीजी सन्यासी होने पर भी रूढ़ियो के गुलाम नहीं थे और उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस प्रकार के बाह्य परिवर्तन में उनको कुछ भी एतराज न था। पर कठिनाई यह थी कि अब उनके पास अधिक रूपया नही बचा था। इससे वे धैर्यपूर्वक कठिनाइयों को सहन करके दिन बिताने लगे। इतने में स्त्रियों की एक संस्था ने उनको अपने यहाँ व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। उस भाषण से जो आय हुई उनसे स्वामीजी के लिए अमरीकन पोशाक बन गई और तबसे उन्होंने गेरूआ वस्त्रों के केवल भाषण के समय के लिए रख दिया।

सर्व धर्म– सम्मेलन :

सन् 1893 की 11वीं सितम्बर को सर्व धर्म सम्मेलन का उद्घाटन हुआ। संसार भर के विभिन्न देशों के प्रतिनिधि तथा शहर के बहुसंख्यक प्रतिष्ठित व्यक्ति 'आर्ट पैलेस' (कला मंदिर) के विशाल हाल में एकत्रित हुए। प्रत्येक प्रतिनिधि अपने–अपने धर्म की महत्ता सिद्ध करने को उत्सुक था और इस उद्देश्य से कई दिनों से अधिक से अधिक प्रभावशाली भाषण उेने की तैयारी कर रहा था। पर स्वामीजी को सभी तक इस प्रकार की तैयारी कर सकने की सुविधा नहीं मिल सकी और सभा में वे सबसे पीछे बैठे ईश्वर चिंतन में संलग्न थे।[6]

अंत में दस का घंटा बजा। ईसाई पादरी अनुभव करने लगे कि जगत में ईसाई धर्म सर्वश्रेष्ठ है– इस तथ्य को दुनिया के सामने प्रकट करने का समय आ पहुँचा और वास्तव में इसी भावना से अमरीका के बड़े धार्मिक नेताओं ने इस महा–सम्मेलन का आयोजन किया था। परन्तु किसी को खबर न थी कि यह घंटा तो सनातन हिन्दू–धर्म की विजय का बज रहा है। वहाँ स्वामीजी के कैसा अनुभव हुआ यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए–

''मंच के ऊपर संसार के सब देशों के चुने हुए विद्वान और व्याख्यानदाता बैठे थे। मैंने अपने जीवन में न कभी ऐसी विशाल सभा देखी थी और न ऐसे उत्कृष्ट जन–समूह के सम्मुख भाषण किया था। संगीत और शिष्टाचार के भाषणों के उपरान्त सब प्रतिनिधियों का एक–एक करके परिचय दिया जाने लगा और वे भी

संक्षेप में अपना मंतव्य प्रकट करने लगे। मेरा तो हृदय धड़कने लगा और जीभ सूखकर लगभग बंद हो गई। प्रातःकाल के समय मैं बोलने की हिम्मत ही न कर सका। सभा–अध्यक्ष ने मुझसे कई बार बोलने को कहा मैं यही उत्तर देता रहा– 'अभी नहीं।' इससे सभ–अध्यक्ष भी मेरी तरफ से कुछ निराश हो गया। अतः दोपहर के अंतिम भाग में सभाध्यक्ष ने बहुत उत्साहपूर्ण शब्दों में आग्रह किया तो मैं उठकर आगे आया और मेरा परिचय दिया गया।''[7]

अध्यक्ष द्वारा परिचय समाप्त हुआ और स्वामीजी आँख बंद करके ध्यान करने लगे। उनको अपने पीछे खड़े और आशीर्वाद देते हुए परमहंस देव के दर्शन हुए। बस, स्वामीजी का चेहरा दैवी तेज से दीप्त हो उठाा और उसमें एक अद्‌भुत शक्ति जागृत हो गई। श्री गुरूदेव और सरस्वती को प्रमाण करके उन्होंने बोलना आरम्भ किया– ''भाईयों और बहिनों!''

इन 'भाईयों और बहिनों' को सुनते हुए सभा में सत्साह का तुफान आ गया। सबके मुख्य से 'लेडिस और जैंटिलमैन' के बाह्यशिष्टाचार युक्त संबोधन को सुनते–सुनते जब उनके कानों में ये 'भाईयों और बहिनों' के आत्मीयपूर्ण शब्द पड़े तो हजारों व्यक्ति जोश से तालियाँ बजाते खड़े हो गए। स्वामीजी स्वयं चकित रह गए। कई मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती रही।[8]

अंत में लोगों के शान्त होन पर स्वामीजी ने कहा– 'मुझे यह कहते हुए गर्व है कि जिस धर्म का मैं अनुयायी हूँ उसने जगत को उदारता और प्राणी मात्र को अपना समझते की भावना दिखलाई है। इतना ही नहीं हम सब धर्मों को सच्चा मानते हैं और हमारे पूर्वजों ने प्राचीन काल में भी प्रत्येक अन्याय पीड़ित को आश्रम दिया है। जब रोमन साम्राज्य के जुल्मों से यहूदियों का नाश हुआ और बचे खुचे लोग दक्षिण भारत में पहुँचे तो उनके साथ पूर्ण सहानुभूति का व्यवहार किया गया। इसी प्रकार ईरान के पारसियों को भी आश्रय दिया गया और वे आज भी गौरव के साथ वहाँ निवास कर रहे हैं। मैं छोटेपन से नित्य कुछ श्लोकों का पाठ करता हूँ, अन्य लाखों हिन्दू भी नियम से उनका पाठ करते हैं। उनमें कहा गया है– ''जिस प्रकार भिन्न–भिन्न सथानों से उत्पन्न नदियाँ अन्त में एक समुद्र में ही इक्ट्ठी होती हैं उसी प्रकार हे प्रभु! मनुष्य अपनी भिन्न–भिन्न प्रकृति के अनुकूल पृथक–पृथक जान पड़ने वाले मार्गों से अंत में तेरी ही पास पहुँचते हैं।''[9]

सन्दर्भ :–

1. लाल, रमन बिहारी : शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रस्तौगी पब्लिकेशन्स, शिवाजी रोड़, मेरठ, 2003.
2. पाठक, पी॰डी॰ एवं त्यागी, पी॰डी॰ : शिक्षा के सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवीनतम संस्करण।
3. जौहरी, बी॰पी॰ एवं पाठक, पी॰डी॰ : भारतीय शिक्षा का इतिहास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
4. बुच, एम॰बी॰ : ए सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशनल, बड़ौदा, सेन्टर ऑफ एडवान्स स्टडी इन एजुकेशन, प्रथम, 1974.
5. अदावल, सुबो और उनियाल, माघवेन्द्र : भारतीय शिक्षा की समस्याएं तथा प्रवृतियाँ, 1974.
6. मेहता, अशोक : एशियाई समाजवाद, अखिल भारतीय सेवा संघ, वाराणसी, 1959.

7. भारत सरकार : शिक्षा की चुनौती (परिशिष्ट) शिक्ष मंत्रालय, नई दिल्ली, 1986.

8. सुखिया, एस॰पी॰ एवं मेहरोत्रा, पी॰ए॰ एवं मेहरोत्रा, आर॰एन॰ : शैक्षिक अनुंधान के मूल तत्व, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

9. शर्मा, आर॰एन॰ : शिक्षा अनुसंधान, सूर्या पब्लिकेशन, मेरठ, 1995. 10. पण्डेय, डॉ॰ रामशकल : विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।